४१. कर्मशक्ति– प्राप्यमाणसिद्धरूपभावमयी कर्मशक्तिः। अर्थात् जिस शक्ति के कारण आत्मा, प्राप्त होने योग्य सिद्धरूप भावमयी होता है, उसे कर्मशक्ति कहते हैं।

४२. कर्तृशक्ति– भवत्तारूपसिद्धरूपभावकत्वमयी कर्तृशक्तिः। अर्थात् जिस शक्ति के कारण आत्मा, घटित होनेवाले सिद्धरूपभाव से अनुप्राणित होता है, उसको उत्पन्न करता है, उसे कर्तृशक्ति कहते हैं।

४३. करणशक्ति– भवद्भावभवनसाधकतमत्वमयी करणशक्तिः। अर्थात् जिस शक्ति के कारण आत्मा, घटित होनेवाले सिद्धरूप भाव के होने में उत्कृष्ट साधकतम होता है, उसे करणशक्ति कहते हैं।

४४. सम्प्रदानशक्ति– स्वयं दीयमानभावोपेयत्वमयी सम्प्रदान शक्तिः। अर्थात् जिस शक्ति के कारण आत्मा, स्वयं के द्वारा स्वयं को दिये जानेवाले भाव को प्राप्त करने योग्य होता है, उसे सम्प्रदान शक्ति कहते हैं।

४५. अपादानशक्ति– उत्पादव्ययालिंगितभावापायनिरपाय-ध्रुवत्वमयी अपादान शक्तिः। अर्थात् जिस शक्ति के कारण आत्मा, उत्पाद-व्यय से आलिंगित भावों के नष्ट होने पर भी स्वयं ध्रुवरूप बना रहता है, उसे अपादानशक्ति कहते हैं।

४६. अधिकरणशक्ति– भाव्यमानभावाधारत्वमयी अधिकरण शक्तिः। अर्थात् जिस शक्ति के कारण आत्मा, होनेवाले भाव का आधार बनता है, उसे अधिकरणशक्ति कहते हैं।

४७. सम्बन्धशक्ति– स्वभावमात्रस्वस्वामित्वमयी संबंध-शक्तिः। अर्थात् जिस शक्ति के कारण आत्मा, स्वभावरूप केवल अपने भावों का स्वामी होता है, उसे सम्बन्धशक्ति कहते हैं।

– प्रस्तुति : डॉ. राकेश जैन शास्त्री, नागपुर

श्री प्रवचनसारजी - ४७ नय

जिस प्रकार ज्ञान मात्र आत्मा में अनन्त शक्तियाँ विद्यमान हैं, उसी प्रकार उसमें अनन्त धर्म भी विद्यमान हैं। आचार्य अमृतचन्द्रदेव ने समयसार की आत्मख्याति टीका में ४७ शक्तियों का वर्णन किया है और प्रवचनसार की तत्त्वप्रदीपिका टीका में ४७ नयों का वर्णन किया है।

अनन्त धर्मों में व्याप्त धर्मी आत्मा श्रुतज्ञान प्रमाण पूर्वक स्वानुभव से जाना जाता है। यह श्रुतज्ञान अनन्त नयों में व्याप्त है जो कि एक-एक धर्म को विषय बनाते है।

४७ शक्तियों को जानने से आत्मा के वैभव का ज्ञान होता है और ४७ धर्मों को जानने से आत्मा के स्वरूप तथा उसमें विद्यमान अनेक योग्यताओं का परिचय प्राप्त होता है, जिससे आत्मा को अधिक स्पष्टता व गहराई से जाना जा सकता है।

यहाँ ४७ नयों के माध्यम से ४७ धर्मों के स्वरूप की संक्षिप्त चर्चा की जा रही है।

इन ४७ नयों के नाम इस प्रकार है :-

१. द्रव्यनय, २. पर्यायनय, ३. अस्तित्वनय, ४. नास्तित्वनय, ५. अस्तित्वनास्तित्वनय, ६. अवक्तव्यनय, ७. अस्तित्व-अवक्तव्यनय, ८. नास्तित्व-अवक्तव्यनय, ९. अस्तित्व-नास्तित्व-अवक्तव्यनय, १०. विकल्पनय, ११. अविकल्पनय, १२. नामनय, १३.स्थापनानय, १४. द्रव्यनय, १५. भावनय, १६. सामान्यनय, १७. विशेषनय, १८. नित्यनय, १९. अनित्यनय, २०. सर्वगतनय, २१. असर्वगतनय, २२. शून्यनय, २३. अशून्यनय, २४. ज्ञानज्ञेय-अद्वैतनय, २५. ज्ञानज्ञेय-द्वैतनय, २६. नियतिनय, २७. अनियतिनय, २८. स्वभावनय, २९. अस्वभावनय, ३०. कालनय, ३१.अकालनय , ३२. पुरुषकारनय, ३३. दैवनय, ३४. ईश्वरनय, ३५. अनीश्वरनय, ३६. गुणीनय, ३७. अगुणीनय,

३८.कर्तृनय, ३९. अकर्तृनय, ४०. भोक्तृनय, ४१. अभोक्तृनय, ४२. क्रियानय, ४३. ज्ञाननय, ४४. व्यवहारनय, ४५. निश्चयनय, ४६. अशुद्धनय ४७. शुद्धनय।

उक्त ४७ नयों की नामावली पर गहराई से विचार करने पर ज्ञात होता है कि नय क्रमांक ३ से ९ तक के नय सप्तभंगी सम्बन्धी हैं तथा १२ से १५ तक चार निक्षेप सम्बन्धी हैं। शेष ३६ नय परस्पर विरुद्ध प्रतीत होने वाले धर्मों को विषय बनाने वाले १८ धर्मयुगलों पर आधारित हैं।

इन ४७ नयों द्वारा भगवान आत्मा के ४७ धर्मों को जानकर शेष अनन्त धर्मों का भी अनुमान किया जा सकता है तथा सम्यक् श्रुतज्ञान द्वारा अनन्त धर्मात्मक एक धर्मी आत्मा का अनुभव भी किया जा सकता है।

स्वभाव, गुण, शक्ति और धर्म –

४७ धर्मों को जानने से पूर्व स्वभाव, गुण, शक्ति और धर्म के स्वरूप की भी यथाशक्ति चर्चा करना आवश्यक है, क्योंकि आत्मा का स्वरूप बताते समय प्रायः इन चार बिन्दुओं की चर्चा अवश्य होती है।

१. स्वभाव –

अनन्त गुण, शक्ति और धर्म – ये सभी प्रत्येक वस्तु में पारिणामिक भाव रूप से विद्यमान रहते हैं। ये सभी कर्मों से निरपेक्ष हैं और द्रव्य के आत्म लाभ में अर्थात् उसके स्वरूप की रचना में हेतुभूत हैं अतः ये सब द्रव्य के स्वयं के भाव अर्थात् स्वभाव हैं।

वस्तु के स्वरूप चतुष्टय में विद्यमान द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव में गुण, शक्ति और धर्म भाव में शामिल होंगे। अतः ये सभी वस्तु के स्व+भाव हैं।

इसप्रकार स्वभाव सर्वव्यापी है जो वस्तु में गुण, शक्ति और धर्मों के रूप में त्रिकाल विद्यमान रहता है। प्रत्येक गुण, शक्ति या धर्म

का स्वभाव अन्य-अन्य तो होता है, प्रत्येक पर्याय अर्थात् औपशमिकादि चारों भावों या स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण आदि का अपना-अपना स्वभाव होता है। तत्त्वार्थसूत्र में औपशमिकादि चारों भावों को जीव का स्वभाव कहा ही है –

"औपशमिक क्षायिकौ भावौ मिश्रश्च जीवस्य स्वतत्त्वमौदायिक पारिणामिकश्च।"

आत्मख्याति टीका में स्वभाव को ही वस्तु कहा है:-

"इह खलु स्वभाव मात्रं किल वस्तु"-गाथा ७१ की टीका

इसप्रकार स्वभाव शब्द का अर्थ गहराई से विचारणीय है।

२. गुण – द्रव्य में अनन्त विशेषताएँ (खूबियाँ) त्रिकाली शक्ति के रूप में विद्यमान रहती हैं। ये विशेषताएँ ही द्रव्य के गुण हैं जिनका भाव अंग्रेजी के क्वालिटी शब्द से अच्छी तरह स्पष्ट हो जाता है। जीव में ज्ञान-दर्शन आदि अनन्त गुण हैं।

३. शक्ति – प्रत्येक गुण में त्रिकाल कायम रहने की, उसके स्वरूप के अनुसार कार्य करने की जो सामर्थ्य है वही उसकी शक्ति है। अर्थात् शक्तियाँ प्रायः गुणों के रूप में पाई जाती है। एक गायक में मधुर कण्ठ से गाने का गुण है तथा लम्बे समय तक गा सके – यह उसकी शक्ति है। ज्ञान आत्मा का गुण है तथा अपने सुनिश्चत ज्ञेयों को जानने की उसमें शक्ति है। प्रत्येक गुण में अपनी प्रकृति (स्वभाव) के अनुसार कार्य करने की शक्ति होना ही चाहिए अन्यथा उसकी सार्थकता क्या होगी?

४. धर्म – धर्म से आशय मुख्यता अस्ति-नास्ति, नित्य-अनित्यादि परस्पर विरोधी स्वभावों से है। इनमें गुणों के समान उत्पाद-व्यय रूप पर्यायें नहीं होती, परन्तु वस्तु में उस धर्म के अनुरूप योग्यता होती है, जिसे किसी अपेक्षा से ही जाना/कहा जाता है। अपेक्षा सहित

जाननेवाला ज्ञान सम्यक् एकान्तरूप है तथा अपेक्षा रहित जाननेवाला ज्ञान मिथ्या एकान्तरूप होता है।

किसी व्यक्ति में ईमानदारी, बुद्धिमत्ता आदि विशेषतायें गुण के रूप में जानी जायेंगी, परन्तु छोटा-बड़ा, पिता-पुत्र, पतला-मोटा आदि को धर्म के रूप में जाना जाएगा, क्योंकि उसमें परस्पर विरुद्ध अपेक्षाओं से एक ही साथ छोटा-बड़ा, पिता-पुत्र आदि दोनों योग्यतायें विद्यमान है।

यह बात विशेष ध्यान देने योग्य है कि कोई विशेषता शक्ति एवं धर्म दोनों रूपों में जानी जाती है। उत्पाद-व्यय-ध्रुवत्व शक्ति भी है। उत्पाद-व्यय-ध्रुवत्व स्वरूप अस्तित्व गुण भी है और सत् धर्म भी है। इस प्रकरण पर विचार-विमर्श की आवश्यकता है।

अब ४७ नयों के स्वरूप पर संक्षेप में विचार किया जाता है।

(१-२)

द्रव्यनय और पर्यायनय

वह आत्मद्रव्य द्रव्यनय से, पटमात्र की भाँति, चिन्मात्र है; पर्यायनय से तंतुमात्र की भाँति दर्शनज्ञानादिमात्र है।

जैसे वस्त्र में अनेक ताने-बाने, रंग-रूप तथा आकारादि होते हैं, परन्तु उन्हें गौण करके मात्र वस्त्र को जानना द्रव्य नय है तथा उसके रंग-रूपादि भेदों जानना पर्यायनय है। उसीप्रकार मात्र चित् स्वभाव को जानना द्रव्यनय है तथा ज्ञान-दर्शनादि भेदों को जानना पर्यायनय है।

आत्मा में द्रव्य नाम का एक धर्म है जिसका स्वरूप चैतन्य मात्र है अथवा द्रव्य धर्म से आत्मा का चैतन्य स्वभाव उसके सम्पूर्ण गुण-पर्यायों में व्याप्त है और पर्याय धर्म से ज्ञान दर्शनादि भेद रूप रहने की योग्यता है।

द्रव्यार्थिकनय, पर्यायार्थिकनय और द्रव्य-पर्यायनयों में अन्तर है। द्रव्यार्थिकनय का विषय सम्पूर्ण सामान्य स्वभाव रूप अभेद धर्म है जबकि द्रव्यनय अनन्तधर्मों में से एक धर्म है। इसीप्रकार पर्यायार्थिकनय का विषय वस्तु का विशेष स्वभाव है, जबकि पर्याय धर्म भेदरूप रहने की विशिष्ट योग्यता है। द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक के विषय में प्रमाण के विषयभूत सम्पूर्ण वस्तु है, जबकि द्रव्यनय और पर्यायनय का विषय मात्र एक-एक धर्म है।

ये दोनों नय वस्तु की अभेद तथा भेदरूप एक-एक योग्यता को बताते है। जरा ध्यान दीजिए कि अभेद शब्द कितने अर्थों में प्रयुक्त होता है?

१. अभेद अनुभूति - जहाँ ध्यान ध्याता ध्येय का भी विकल्प नहीं है।

२. द्रव्यार्थिक या शुद्धनय का विषय - जिसमें भेदों को गौण करके अभेद वस्तु को विषय बनाया जाता है।

३. द्रव्यनय का विषय - समस्त भेदों में व्याप्त रहने की एक योग्यता रूप धर्म।

अतः अभेद शब्द के द्वारा कहाँ कौन-सा वाच्य बताना है इसका ध्यान रखना चाहिए?

(३-५)

अस्तित्वनय, नास्तित्वनय एवं अस्तित्वनास्तित्वनय

"वह आत्मद्रव्य अस्तित्वनय से लोहमय, डोरी और धनुष के मध्य में स्थित, संधानदशा में रहे हुए, लक्ष्योन्मुख बाण की भाँति स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा अस्तित्ववाला है, नास्तित्वनय से अलोहमय, डोरी और धनुष के मध्य में नहीं स्थित, संधान दशा में न रहे हुए, अलक्ष्योन्मुख उसी बाण की भाँति परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा नास्तित्ववाला है एवं

अस्तित्वनास्तित्वनय से लोहमय तथा अलोहमय, डोरी और धनुष के मध्य में स्थित तथा डोरी और धनुष में नहीं स्थित, संधान-अवस्था में रहे हुए और संधान-अवस्था में नहीं रहे हुए और लक्ष्योन्मुख तथा अलक्ष्योन्मुख उसी बाण की भाँति क्रमशः स्व-पर-द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा अस्तित्वनास्तित्ववाला है।''

इस सम्बन्ध में निम्न बिन्दुओं के आधार पर विचार किया जा सकता है –

१. अस्तित्व और नास्तित्व को द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव के रूप में समझाया गया है। स्व-द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव में ही वस्तु की सत्ता या नास्तित्व है।

२. परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव में वस्तु का अस्तित्व नहीं है अर्थात् न-अस्तित्व है। अर्थात् वस्तु स्वरूप से है पर से नहीं है। आत्मा अपने चैतन्य स्वरूप से है शरीरादि रूप नहीं है। शरीरादि पर द्रव्यों में आत्मा का नास्तित्व है अर्थात् अस्तित्व नहीं है।

३. नास्तित्व धर्म समझने में पर का सहारा लेना पड़ता है परन्तु आत्मा के नास्तित्व धर्म की सत्ता आत्मा में आत्मा से ही है शरीर में या शरीर से नहीं। आत्मा का शरीर रूप में होने की योग्यता नास्तित्व धर्म स्वरूप है।

४. प्रत्येक वस्तु का अस्तित्व अपने चतुष्टय में है, पर चतुष्टय में नहीं। अतः प्रयोग करते समय सावधानी रखी जानी चाहिए कि किसकी किसमें नास्ति कही जा रही है। शरीर में आत्मा का नास्तित्व है यह आत्मा का नास्तित्व धर्म हुआ और आत्मा में शरीर का नास्तित्व होना – यह शरीर के नास्तित्व धर्म की योग्यता है।

५. अस्तित्व धर्म में वस्तु की सत्ता का बोध होता है, और

नास्तित्व धर्म में वस्तु की असत्ता अर्थात् पर से भिन्नता, स्वतन्त्रता और अत्यन्त अभाव की सिद्धि होती है।

६. लौकिक जीवन में भी नास्तित्व की अनुभूति के प्रसंग बनते है। किसी विशिष्ट स्थान में किसी विशिष्ट व्यक्ति का न होना बहुत कुछ कह देता है। जन सामान्य में भी अनेक चर्चायें होने लगती हैं।

७. कार्योत्पत्ति में निमित्त की उपस्थिति अनिवार्य है और कई प्रसंगों में अभावरूप निमित्त भी होते है। समुद्र की निस्तरंग अवस्था में हवा का न चलना तथा आत्मा में रागादि की अनुत्पत्ति में द्रव्यकर्म का उदय न होना आदि अभावरूप निमित्त के उदाहरण है।

८. आचार्य समन्तभद्र ने आप्तमिमांसा में अभावैकान्त का खण्डन करके अस्तित्व धर्म की और भावैकान्त का खण्डन करके नास्तित्व धर्म की महत्ता बताई है।

९. अस्तित्व-नास्तित्व धर्म की व्याख्या दो तरह से की जाती है। (अ) दोनों धर्म का क्रमशः कथन किया जा सकता है। (ब) दोनों विरोधी धर्म वस्तु में अविरोध रूप से एक साथ रहें – ऐसी योग्यता को तीसरे भंग द्वारा बताया जाता है। इसलिए वस्तु कथंचित् उभय रूप कही जाती है।

१०. अस्ति-नास्ति इन दो को मिला देने से तीसरा भंग बन गया – ऐसा नहीं है। उभयरूप में रहने की योग्यता वाला तीसरा धर्म वस्तु में है जो तीसरे भंग (नय) द्वारा कहा गया है। इसी प्रकार शेष ४ भंग भी वस्तु की उस-उस प्रकार की योग्यता रूप स्वतन्त्र धर्म है। मात्र दो धर्मों का विस्तार नहीं, क्योंकि ७ प्रकार के धर्म है, इसलिए ७ प्रकार की शंकायें होती हैं और इसलिए सात भंग है।

११. यदि दोनों धर्म एक साथ रहे तो वस्तु की सत्ता सुरक्षित न रह पाएगी अतः उभय धर्म स्वीकार करना चाहिए।

(६) अवक्तव्यनय

"लोहमय तथा अलोहमय, डोरी व धनुष के मध्य में स्थित तथा डोरी व धनुष के मध्य में नहीं स्थित, संधान-अवस्था में रहे हुए तथा संधान-अवस्था में न रहे हुए और लक्ष्योन्मुख तथा अलोक्ष्योन्मुख ऐसे पहले बाण की भाँति आत्मद्रव्य अवक्तव्य नय से युगपत् स्वपरद्रव्य -क्षेत्र-काल-भाव से अवक्तव्य है।"

अवक्तव्य का स्वरूप निम्न बिन्दुओं के माध्यम से समझा जा सकता है।

१. सभी धर्मों का कथन एक साथ नहीं किया जा सकता इस अपेक्षा से वस्तु अवक्तव्य रूप है।

२. यद्यपि इसमें वाणी की कमजोरी होने से वाणी की अपेक्षा आती है, परन्तु सम्पूर्ण रूप से कथन नहीं किया जा सकता - ऐसी योग्यता वस्तु में है, जिसे अवक्तव्य द्वारा जाना/कहा जा सकता है।

३. वस्तु को सर्वथा अवक्तव्य कहना भी स्व-वचन बाधित है अर्थात् अवक्तव्य रूप योग्यता को तो कहा जा रहा है, इसलिए वह कथंचित् अवक्तव्य है सर्वथा अवक्तव्य नहीं। अनेक धर्मों का कथन क्रमशः किया जाता है अतः वस्तु कथंचित् वक्तव्यरूप भी है।

४. तीर्थंकरों के गुणों का वर्णन अथवा आचार्यों, ज्ञानियों के उपकार का वर्णन असंभव है - यह कथन भी अवक्तव्य नय का प्रयोग है।

५. बालक यदि कोई गलती करे तो गम्भीर प्रकृति के माता-पिता उसे डाँटने के बदले मौन रहते हैं। समझदार बालक उनके मौन से ही उनकी नाराजगी समझ लेता है और अपनी गलती महसूस कर लेता है।

६. प्रारम्भ के तीन भंगों द्वारा वस्तु स्वरूप कहा जा रहा है,

अतः वे वक्तव्यपने के वाचक हैं तथा अन्त के चार भंग अवक्तव्य सम्बन्धी हैं।

(७-८-९)

अस्ति अवक्तव्य, नास्ति अवक्तव्य, अस्ति-नास्ति अवक्तव्यनय

अवक्तव्यनय के बाद इन तीन नयों की विस्तृत व्याख्या दुर्लभ है, क्योंकि इनके प्रयोग बहुत कम पाये जाते हैं।

अस्ति अवक्तव्य धर्म से तात्पर्य है कि आत्मा का अस्तित्व बताया जाने पर भी नास्तित्व तथा नित्य-अनित्यादि धर्म नहीं कहे गए, अतः वह अस्ति-अवक्तव्यरूप योग्यतावाला है। स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव का वर्णन करके यह नहीं समझना चाहिए कि सम्पूर्ण वस्तु का वर्णन हो गया।

इसी प्रकार नास्तित्व-अवक्तव्य धर्म भी यह बताता है कि नास्तित्व से वस्तु का वर्णन करने पर भी वस्तु का बहुत अंश अवक्तव्य रह गया है।

यही स्थिति सातवें अस्ति-नास्ति अवक्तव्य धर्म के बारे में समझना चाहिए। यदि क्रमशः अस्ति-नास्ति दोनों धर्मों का वर्णन किया जाए तो भी वस्तु का सम्पूर्ण वर्णन नहीं हो पाएगा, क्योंकि नित्य-अनित्य आदि अन्य धर्म-युगल तथा ज्ञानादि अनन्त गुण नहीं कहे गए। किसी भी एक धर्मयुगल से वर्णन करने पर भी उसी समय वस्तु अवक्तव्य भी रह जाती है - इसी योग्यता का वाचक सातवाँ भंग है।

(१०-११)

विकल्पनय और अविकल्पनय

"आत्मद्रव्य विकल्पनय से बालक, कुमार और वृद्ध - ऐसे एक पुरुष की भाँति सविकल्प है और अविकल्पनय से एक पुरुषमात्र की भाँति अविकल्प है।"

यहाँ विकल्प का अर्थ भेद है और अविकल्प का अर्थ अभेद है। जिसप्रकार एक ही पुरुष बालक, जवान और वृद्ध - इन अवस्थाओं का धारण करनेवाला होने से बालक, जवान एवं वृद्ध - ऐसे तीन भेदों में विभाजित किया जाता है, उसी प्रकार भगवान आत्मा भी ज्ञान, दर्शनादि गुणों एवं मनुष्य, तिर्यंच, नरक, देवादि अथवा बहिरात्मा, अन्तरात्मा, परमात्मा आदि पर्यायों के भेदों में विभाजित किया जाता है।

तथा जिसप्रकार बालक जवान एवं वृद्ध अवस्थाओं में विभाजित होने पर भी वह पुरुष खण्डित नहीं हो जाता, रहता तो वह एक मात्र अखंडित पुरुष ही है। उसी प्रकार ज्ञान-दर्शनादि गुणों एवं नरकादि अथवा बहिरात्मादि पर्यायों के द्वारा भेद को प्राप्त होने पर भी भगवान आत्मा अखण्ड आत्मा ही रहता है।

यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि द्रव्यनय और अविकल्पनय तथा पर्यायनय और विकल्पनय में क्या अन्तर है? वैसे तो ये दोनों जोड़े एक से ही मालूम पड़ते है, परन्तु गहराई से विचार करने पर ऐसा लगता है कि द्रव्यनय आत्मा का चिन्मात्र धर्म बता रहा है और अविकल्पनय आत्मा की गुण-पर्यायों में व्याप्त होने की योग्यता को बता रहा है अर्थात् उसके अभेदरूप धर्म का वाचक है। इसी प्रकार पर्यायनय आत्मा को ज्ञान-दर्शन गुणों को बताता है और विकल्पनय उसकी भेद रूप योग्यता को बताता है। इस दृष्टि से सुधी जनों द्वारा यह प्रकरण विचारणीय है।

(१२-१५)

नामनय, स्थापनानय, द्रव्यनय और भावनय

"आत्मद्रव्य नामनय से नामवाले की भाँति शब्दबह्म को स्पर्श करनेवाला है, स्थापनानय से मूर्तिपने की भाँति सर्व पुद्गलों का अवलम्बन करनेवाला है, द्रव्यनय से बालक, सेठ और श्रमणराजा की भाँति अनागत और अतीत पर्याय से प्रतिभासित होता है और भावनय से पुरुष के समान प्रवर्तमान स्त्री की भाँति वर्तमान पर्यायरूप से उल्लसित-प्रकाशित-प्रतिभासित होता है।"

ये निक्षेपों सम्बन्धी नय आत्मा में विद्यमान नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव धर्मों को बताते हैं। इन चारों नयों का स्वरूप निम्न बिन्दुओं के आधार से स्पष्ट समझा जा सकता है।

नामनय

१. आत्मा आत्मा शब्द से वाच्य होने की योग्यता रखता है। इस योग्यता को नाम धर्म कहते हैं और इसे जानने वाला नय नामनय है।

२. यदि आत्मा में वाणी द्वारा वाच्य होने की योग्यता न होती तो उसका उपदेश देना, ग्रन्थ रचना करना आदि निरर्थक हो जाता।

३. आत्मा में वाणी का अभाव है तथापि वाणी से वाच्य होने रूप धर्म का अभाव नहीं है। भगवान आत्मा परम ब्रह्म है और उसे प्रकाशित करने वाली वाणी शब्दब्रह्म है। "शुद्ध ब्रह्म परमात्मा शब्द ब्रह्म जिनवाणी।"

स्थापनानय

१. जिस प्रकार मूर्ति में भगवान की स्थापना की जाती है उसी प्रकार किसी भी पुद्गलपिण्ड में आत्मा की स्थापना की जाती सकती है। जिस वस्तु में जिस व्यक्ति की स्थापना की जाती है उस वस्तु को देखने पर वह व्यक्ति ख्याल में आता है - इसप्रकार वह वस्तु स्थापना के द्वारा उस व्यक्ति का ज्ञान करा देती है।

२. शरीर में उपचार से जीव की स्थापना करके शरीर को जीव कहा जाता है - अर्थात् जीव में ऐसी योग्यता रूप धर्म है कि उसकी स्थापना पुद्गल पिण्डों में की जा सके।

३. स्थापना तदाकार और अतदाकार के भेद से दो प्रकार की होती है। मूर्ति में भगवान की स्थापना के प्रयोग तो जगत में देखे ही जाते है, जो तदाकार स्थापना कहलाते हैं; किसी के द्वारा भेंट में प्राप्त

घड़ी, रूमाल आदि वस्तुओं को देखकर उस व्यक्ति की याद आती है अतः इसे अतदाकार स्थापना का प्रयोग कहा जा सकता है।

द्रव्यनय

१. आत्मा को उसकी भूत-भविष्य की पर्यायों के रूप में वर्तमान में देखा जा सके - ऐसी योग्यता उसमें है, जिसे द्रव्य नामक धर्म से जाना जाता है। उस योग्यता को जानने वाला ज्ञान द्रव्यनय है।

२. राजा के पुत्र को राजा के रूप में देखना, राजा यदि मुनि हो जाए तो भी उन्हें राजा के रूप में देखना तथा ऋषभादि तीर्थंकर भगवन्तो को सिद्ध हो जाने पर भी तीर्थंकर के रूप में देखना - ये सब द्रव्यनय के ही प्रयोग है।

३. पहला द्रव्यनय कहा गया था जो आत्मा को सामान्य चैतन्य मात्र देखता है और यह द्रव्यनय आत्मा को उसकी भूत-भविष्य की पर्याय के रूप में देखता है। प्रथम द्रव्यनय के साथ पर्यायनय कहा गया है और इस द्रव्यनय के साथ भावनय कहा गया है।

भावनय

१. आत्मा को उसकी वर्तमान पर्यायरूप में जाना जाए - ऐसी योग्यता को उसका भाव नामक धर्म कहा जाता है तथा इसे जाननेवाला श्रुतज्ञान भावनय कहा जाता है।

२. यदि कोई डॉक्टर पूजा कर रहा हो तो उसे डॉक्टर कहना द्रव्यनय है और पुजारी कहना भावनय है।

उपर्युक्त चारों नयों को निम्नलिखित सरल उदाहरण द्वारा भी समझा जा सकता है:-

जिनेन्द्र नाम के व्यक्ति को जिनेन्द्र कहना नामनय है।

अन्तर्मुख वीतरागी प्रतिमा को जिनेन्द्र कहना स्थापना नय है।

मुनिराज को जिनेन्द्र कहना द्रव्यनय है।

जिनेन्द्र भगवान को जिनेन्द्र कहना भावनय है।

इस विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि आत्मा में विद्यमान नाम-स्थापना-द्रव्य और भाव ये धर्म ज्ञेय है तथा इनको जाननेवाले चारों नय श्रुतज्ञान है और इनके आधार पर प्रचलित होनेवाला लोक व्यवहार निक्षेप है।

इन चारों नयों को जानने से आत्मा की विशिष्ट योग्यताओं का ज्ञान होता है और उसके प्रतिपादन की विभिन्न शैलियों द्वारा दिखाई देने वाला विरोध मिट जाता है।

(१६-१७)

सामान्यनय और विशेषनय

"आत्मद्रव्य सामान्यनय से हार-माला-कण्ठी के डोरे की भाँति व्यापक है और विशेषनय से उसके एक मोती की भाँति अव्यापक है।"

१. आत्मा में अपने गुण-पर्यायों में व्याप्त होकर रहने की योग्यता को सामान्य धर्म कहते हैं और उसे जाननेवाला ज्ञान सामान्यनय कहलाता है।

२. यदि द्रव्य अपने गुण-पर्यायों में व्याप्त न हो तो यह गुण या पर्याय इस द्रव्य की है - ऐसा किस आधार पर कहा जा सकेगा? अर्थात् ज्ञान आत्मा का गुण है और मतिज्ञान आदि आत्मा की पर्यायें हैं - ऐसा नहीं कहा जा सकता।

३. आत्मा में ऐसी योग्यता भी है जिससे उसका एक गुण या पर्याय अन्य गुणों या पर्यायों में प्रवेश नहीं कर सकती। प्रत्येक गुण अपने-अपने स्वभाव में और प्रत्येक पर्याय अपने-अपने स्वकाल में सत्रूप से विद्यमान है। इस योग्यता को ही विशेष धर्म कहते हैं और इसे जाननेवाले ज्ञान विशेषनय कहलाता है।

४. आत्मा अपनी मिथ्यात्व और सम्यक्त्व दोनों पर्यायों में व्यापक है अर्थात् इनके स्वकाल में इन पर्यायरूप में परिणमन करता है, परन्तु मिथ्यात्व पर्याय आगामी सभी पर्यायों में व्यापक हो जाये तो मिथ्यात्व का अभाव कभी नहीं हो सकेगा। मिथ्यात्व पर्याय का नाश होकर सम्यक्त्व पर्याय प्रकट होने पर मानो सम्पूर्ण आत्मा ही पलट जाता है – ऐसा प्रतिभासित होता है। अतः पर्याय अपेक्षा आत्मा अव्यापक धर्मस्वरूप है।

५. प्रश्न – मिथ्यात्व तो अनादिकाल से है और क्षायिक सम्यक्त्व अनन्त काल तक रहेगा तो एक पर्याय को दूसरी पर्यायों में व्यापक क्यों न माना जाए?

उत्तर – उपर्युक्त कथन प्रवाह अपेक्षा से किया गया है। अनादि काल से श्रद्धा गुण की प्रत्येक समय की पर्यायों में मिथ्यात्व उत्पन्न हो रहा है। अतः प्रवाह अपेक्षा उसे अनादि का कहा जाता है। क्षायिक सम्यक्त्व भी प्रति समय अनन्त काल तक नया-नया होता रहेगा, अतः उसे अनन्त कहा जाता है। यह बात अन्य सभी पर्यायों में यथायोग्य समझ लेनी चाहिए।

६. प्रश्न – भावनय, द्रव्यनय और सामान्यनय में क्या अन्तर है?

उत्तर – यह भगवान आत्मा भावनय से वर्तमानपर्यायरूप प्रतिभासित होता है, द्रव्यनय से भूत-भावीपर्यायरूप से प्रतिभासित होता है और इस सामान्यनय से भूत, वर्तमान और भविष्य – इन तीनों काल की पर्यायों में व्याप्त प्रतिभासित होता है।

सामान्यनय से अर्थात् द्रव्य-अपेक्षा आत्मा सर्वपर्यायों में व्याप्त है, पर विशेषनय से अर्थात् पर्याय-अपेक्षा आत्मा सर्वपर्यायों में व्याप्त नहीं है, इसलिए यह कहा जाता है कि यह आत्मा सामान्यनय से व्यापक है और विशेषनय से अव्यापक है।

७. प्रश्न – प्रथम द्रव्यनय और इस सामान्यनय में क्या अन्तर है?

उत्तर – प्रथम द्रव्यनय आत्मा को चिन्मात्र देखता है, गुण-पर्यायों में व्यापकता उसका विषय नहीं। वह सामान्यनय का विषय नहीं।

इसीप्रकार पर्यायनय का विषय गुण-पर्याय के भेदमात्र है, उनकी अव्यापकता नहीं। उनकी परस्पर अव्यापकता विशेषनय का विषय है।

(१८-१९)

नित्यनय और अनित्यनय

"आत्मद्रव्य नित्यनय से नट की भाँति अवस्थायी है और अनित्यनय से राम-रावण की भाँति अनवस्थायी है।"

१. जैसे कोई कलाकार राम-रावण, पुलिस-अपराधी आदि अनेक स्वांग धारण करने पर उस स्वांग रूप नहीं होता, वह व्यक्ति तो वही का वही रहता है, उसीप्रकार भगवान आत्मा भी नर-नारकादि स्वांग धारण करने पर भी नहीं बदलता, आत्मा तो वही का वही, वैसा ही रहता है। आत्मा की यह योग्यता ही नित्य धर्म है और उसे जाननेवाला ज्ञान नित्यनय है।

'नवतत्त्वगतत्वेऽपि यदेकत्वं न मुञ्चति' (समयसार कलश ७)

इस पंक्ति में आत्मा की नित्यता दिखाई गई है।

२. नित्य रहकर भी आत्मा किसी न किसी पर्याय (स्वांग) में अवश्य रहता है और ये स्वांग नित्य नहीं है, ये बदलते रहते हैं। स्वांग बदलने की यह योग्यता ही अनित्य धर्म है और इसे जानने वाला ज्ञान अनित्यनय है।

३. प्रवचनसार, गाथा ११४ की टीका में आत्मा की नित्यता और अनित्यता समझाई गई है। वहाँ पर्यायें परस्पर भिन्न हैं (अव्यापक) हैं और द्रव्य उनसे तन्मय (अनन्य) होने से अन्य-अन्य है – इसप्रकार द्रव्य को पर्यायदृष्टि से अनित्य कहा गया है।

४. प्रवचनसार, गाथा ११६ में भी कोई पर्याय शाश्वत नहीं है – ऐसा कहकर अनित्यता बताई गई है।

(२०-२१)

सर्वगतनय और असर्वगतनय

"आत्मद्रव्य सर्वगतनय से खुली हुई आँख की भाँति सर्ववर्ती (सबमें व्याप्त होनेवाला) है असर्वगतनय से बन्द आँख की भाँति अपने में रहनेवाला है।"

१. नय क्रमांक २०-२५ में ज्ञान और ज्ञेय सम्बन्धी चर्चा है। ज्ञान लोकालोक को जानता है। अतः जानने की अपेक्षा सर्वगत है, परन्तु अपने असंख्य प्रदेशों में ही रहता है, इसलिए असर्वगत है।

२. 'सकल ज्ञेय ज्ञायक तदपि निजानन्द रसलीन' इस पंक्ति में इन दोनों नयों का सहज प्रयोग हो गया है।

३. अपने असंख्य प्रदेशों में रहकर लोकालोक को जानने की योग्यता सर्वगतधर्म है और इसे जाननेवाला ज्ञान सर्वगतनय है। लोकालोक को जानते हुए भी उनसे भिन्न रहने की योग्यता असर्वगत धर्म है और इसे जानने वाला ज्ञान असर्वगतनय है।

४. अन्यमत में विष्णु को सर्वव्यापी कहा गया है, परन्तु आत्मा अपने ज्ञान द्वारा लोकालोक में व्याप्त होता है अर्थात् मात्र जानता है – यही उसका सर्वगतधर्म है। प्रवचनसार गाथा २३ में भी इसी अपेक्षा को सर्वगत कहा गया है।

५. इन दोनों नयों को जानने से ज्ञान का स्वरूप ज्ञान होता है कि वह समस्त ज्ञेयों को जानते हुए भी अपने प्रदेशों में ही रहता है।

(२२-२३)

शून्यनय और अशून्यनय

"आत्मद्रव्य शून्यनय से खाली घर की भाँति अकेला (अमिलित) भासित होता है और अशून्यनय से लोगों से भरे हुए जहाज की भाँति मिलित भासित होता है।"

१. पिछले जोड़े में ज्ञान की प्रधानता से कथन किया गया था और यहाँ ज्ञेयों की प्रधानता से कथन किया गया है।

२. सम्पूर्ण ज्ञेयों को जानते हुए भी आत्मा में किसी भी ज्ञेय का प्रवेश न हो – ऐसी योग्यता को शून्यनय कहते हैं तथा इसे जाननेवाले ज्ञान को शून्यधर्म कहते हैं।

३. ज्ञान में ऐसी योग्यता है कि उसमें ज्ञेय झलके इस योग्यता को अशून्य धर्म कहते है और जाननेवाला ज्ञान अशून्यनय कहलाता है।

"कैवल्य कला में उमड़ पड़ा सम्पूर्ण विश्व का ही वैभव" – इस पंक्ति में अशून्यनय का प्रयोग झलक रहा है।

४. अशून्यनय ज्ञान द्वारा ज्ञेयों को जानने की योग्यता बताता है और शून्यनय ज्ञान की ज्ञेयों से अत्यन्त भिन्नता बताता है।

(२४-२५)

ज्ञान-ज्ञेय अद्वैतनय और ज्ञान-ज्ञेय द्वैतनय

"आत्मद्रव्य ज्ञान-ज्ञेय अद्वैतनय से महान ईंधन समूहरूप परिणत अग्नि की भाँति एक है और ज्ञान-ज्ञेय द्वैतनय पर के प्रतिबिम्बों से संयुक्त दर्पण की भाँति अनेक हैं।"

१. आत्मा में ऐसी योग्यता है कि वह ज्ञेयों को जानकर उनसे भिन्न रहते हुए भी ज्ञेय को जाननेवाली पर्याय अर्थात् ज्ञेयाकार ज्ञान में तन्मय रहकर परिणमें – इस योग्यता को ही ज्ञान-ज्ञेय अद्वैत धर्म कहते हैं और इसे जाननेवाला ज्ञान, ज्ञान-ज्ञेय अद्वैतनय कहा जाता है।

२. यहाँ ज्ञेयाकार ज्ञान को ही उपचार से ज्ञेय कहकर आत्मा को उनसे अभिन्न कहा जा रहा है।

अ. ''ज्ञेयाकार ज्ञान में भी कलाकार ज्ञान है।''

ब. ''जो कुछ झलकता ज्ञान में वह ज्ञेय नहीं बस ज्ञान है।''

उपर्युक्त दोनों पंक्तियों में ज्ञान-ज्ञेय अद्वैतनय का ही प्रयोग झलक रहा है।

३. आत्मा में ऐसी योग्यता हैं कि उसमें ज्ञेय प्रतिबिम्बित होते हुए भी वह ज्ञेयों से भिन्न रहता हैं - यह योग्यता ही ज्ञान-ज्ञेय द्वैतधर्म कही जाती है तथा इसे जाननेवाला ज्ञान, ज्ञान-ज्ञेय द्वैतनय कहा जाता है।

''प्रतिबिम्बित पूरी ज्ञेयावलि, पर चिन्मयता को आँच नहीं''

इस पंक्ति में पूर्वार्ध में अशून्यनय और उत्तरार्ध में ज्ञान-ज्ञेय द्वैतनय का प्रयोग झलक रहा है।

ज्ञान-ज्ञेय सम्बन्धी छहों नयों के स्वरूप और उन्हें जानने से होने वाले लाभ के सम्बन्ध में डॉ. हुकमचन्दजी भारिल्ल द्वारा परमभाव प्रकाशक नयचक्र पृष्ठ ३१३ पर व्यक्त किये गये निम्नलिखित विचार दृष्टव्य हैं -

'' संक्षेप में कहा जा सकता है कि यह भगवान आत्मा ज्ञेयों को जानता तो है, पर न तो ज्ञान ज्ञेयों में आता है और न ज्ञेय ज्ञान में ही आते हैं। दोनों अपने-अपने स्वभाव में सीमित रहने पर भी ज्ञान जानता है और ज्ञेय जानने में आते हैं। ज्ञाता भगवान आत्मा और ज्ञेय लोकालोकरूप सर्व पदार्थों का यही स्वभाव है।

ज्ञाता भगवान आत्मा के उक्त स्वभाव का प्रतिपादन करना ही उक्त छह नयों का प्रयोजन है।

ज्ञेयों को सहजभाव से जानना भगवान आत्मा का सहज स्वभाव है। अतः न तो हमें पर-पदार्थों को जानने की आकुलता ही करना चाहिए और न नहीं जानने का हठ ही करना चाहिए; पर्यायगत योग्यतानुसार जो ज्ञेय ज्ञान में सहजभाव से ज्ञात हो जावें, उन्हें वीतराग भाव से जान

लेना ही उचित है; अन्य कुछ विकल्प करना उचित नहीं है; आकुलता का कारण है।

आत्मा के इस सहजज्ञानस्वभाव को ही ये छह नय अभिव्यक्ति प्रदान करते हैं।''

(२६-२७)

नियतिनय और अनियतिनय

''आत्मद्रव्य नियतिनय से जिसकी ऊष्णता नियमित (नियत) होती है - ऐसी अग्नि की भाँति नियतस्वभावरूप भासित होता है और अनियतरूप से जिसकी ऊष्णता नियति (नियम) से नियमित नहीं है - ऐसे पानी की भाँति अनियत स्वभावरूप भासित होता हैं।''

१. नय क्रमांक २६ से ३३ तक ४ नय युगलों द्वारा कार्योत्पत्ति में कारणभूत ५ समवायों का स्वरूप स्पष्ट किया गया है। इस नय-युगल में द्रव्य-स्वभाव और पर्यायस्वभाव के रूप में स्वभाव नामक समवाय का स्वरूप स्पष्ट किया गया है।

२. अग्नि की ऊष्णता की भाँति आत्मा में ऐसी योग्यता है कि वह त्रिकाल एक रूप चैतन्य स्वभाव में रहे इस योग्यता का नाम नियति धर्म है और इसे जानने वाला ज्ञान नियतिनय है। परमपारिणामिक भाव आत्मा का नियत स्वभाव होने से श्रद्धेय और ध्येय है। यदि आत्मा में यह नियत स्वभाव न होता तो उसका सर्वनाश हो जाता।

३. पानी की ऊष्णता के समान आत्मा में ऐसी योग्यता है कि वह पर्याय में कर्मोदय की सन्निधि में रागादि विकार रूप परिणमन करें - इसी योग्यता को अनियति धर्म कहते हैं और इसे जानने वाला ज्ञान अनियतिनय है।

४. एकमात्र परमपारिमाणिकभाव ही आत्मा का नियतस्वभाव है तथा औपशमिकादि चार भाव अनियत स्वभावरूप योग्यता से होते हैं, क्योंकि वे सदा एक से नहीं रहते।

५. यह अनियत स्वभाव ही पाँच समवायों में स्वभाव नामक समवाय जानना चाहिए। त्रिकाली स्वभाव सामान्य कारण है और क्षणिक स्वभाव समर्थ कारण है, औपशमिकादि चार भाव कार्य हैं जिसे भवितव्य या होनहार भी कह सकते हैं। वह पर्याय त्रिकाली प्रवाह क्रम का समयवर्ती अंश होने से स्वकाल है। उन पर्यायों की उत्पत्ति में प्रयुक्त होने वाला वीर्य पुरुषार्थ है तथा निमित्त अनुकूल बाह्य पदार्थ हैं।

६. पर्याय स्वभाव को अनियत कहने का आशय पर्यायों की परिवर्तनशीलता से है न कि उनके क्रम की अनिश्चितता से है। पर्यायों का क्रम अर्थात् उनके प्रगट होने का स्वकाल तो सुनिश्चित ही है। उनमें कब कैसा परिवर्तन होगा – यह सब सुनिश्चित है। इस प्रकार अनियत स्वभाव और क्रमबद्धपर्याय में कोई विरोध नहीं है।

(२८-२९)

स्वभावनय और अस्वभावनय

"आत्मद्रव्य स्वभावनय से जिनकी नोंक किसी के द्वारा नहीं निकाली जाती – ऐसे पैने काँटे की भाँति संस्कारों को निरर्थक करनेवाला है और अस्वभावनय से, जिनकी नोंक लुहार के द्वारा संस्कार करके निकाली गई है, ऐसे पैने बाणों की भाँति संस्कारों को सार्थक करनेवाला है।"

१. आत्मा के त्रिकाली स्वभाव में ऐसी योग्यता है जिसे संस्कारों अर्थात् प्रयत्नों द्वारा बदला नहीं जा सकता अर्थात् वह संस्कारों को निरर्थक करती है – इस योग्यता को स्वभाव धर्म कहते हैं और इसे जाननेवाला ज्ञान स्वभावनय कहलाता है।

२. इसीप्रकार आत्मा के पर्यायस्वभाव की ऐसी योग्यता है कि उसे संस्कारित किया जा सकता है अर्थात् जो पर्याय होनेवाली है उसके अनुकूल प्रयास भी किये जाते हैं – इस योग्यता को अस्वभाव धर्म कहते हैं और इसे जाननेवाला ज्ञान अस्वभावनय कहलाता है।

३. किसी भी वस्तु का मूल स्वभाव बदला नहीं जा सकता। चेतन कभी जड़ नहीं हो सकता, जड़ कभी चेतन नहीं हो सकता, भव्य कभी अभव्य नहीं हो सकता, अभव्य कभी भव्य नहीं हो सकता। बुन्देलखण्ड की एक कहावत प्रसिद्ध है – जी को जाने स्वभाव जाय ना जी से, नीम न मीठी होय खाओ गुड़ घी से।

४. मिथ्यादृष्टि, सम्यग्दृष्टि होकर सिद्ध बन सकता है, यह अस्वभाव धर्म का ही स्वरूप है।

५. अस्वभाव अर्थात् संस्कारों की सार्थकता करने वाला धर्म, यह भी योग्यतारूप होने से स्वभाव रूप है फिर भी त्रिकाली स्वभाव से भिन्न बताने के लिए इसे अस्वभाव धर्म कहा गया है। अर्थात् यह अस्वभाव नामक स्वभाव है।

६. एक द्रव्य पर किसी अन्य द्रव्य का प्रभाव पड़ने की बात तो दूर रही, द्रव्य का मूल स्वभाव अपनी मलिन और निर्मल पर्यायों से भी प्रभावित नहीं होता, यही स्वभाव की योग्यता है।

७. पर्यायों को संस्कारित किया जा सकता है – इसका अर्थ यह नहीं है कि उनमें परिवर्तन किया जा सकता है, पर्यायें तो अपने सुनिश्चित क्रम में ही होती हैं, जो पर्याय जब होती है तब उसके अनुरूप बाह्य प्रयत्न भी होता है जिसे संस्कार कहा जा सकता है।

(३०-३१)

कालनय और अकालनय

"आत्मद्रव्य कालनय से गर्मी के दिनों के अनुसार पकनेवाले आम्रफल के समान समय पर आधार रखनेवाली सिद्धिवाला है और अकालनय से कृत्रिम गर्मी में पकाये गये आम्रफल के समान समय पर आधार नहीं रखनेवाली सिद्धिवाला है।"

भगवान आत्मा में कार्य की सिद्धि समय पर आधारित हो अर्थात् समय की मुख्यता से हो – ऐसी योग्यता है जिसे काल धर्म कहते हैं और काल के अतिरिक्त अन्य समवायों की प्रधानता से कार्य सिद्धि की योग्यता वाला है, जिसे अकाल धर्म कहते हैं। इन दोनों धर्मों को जानने वाला ज्ञान कालनय और अकालनय कहलाता है।

१. कालनय के लिये डाली पर प्राकृतिकरूप से पकने वाले आम का उदाहरण दिया गया। यद्यपि उसमें भी वृक्ष को सींचना खाद आदि देना इत्यादि प्रयत्न किये जाते है पर इन्हें गौण करके काल की मुख्यता से कहा जाता है कि आम अपने समय में ही पका है।

२. अकालनय को समझने के लिए कृत्रिम गर्मी से पकाने वाले आम का उदाहरण दिया गया है। कृत्रिम गर्मी में रखे गये आम एक साथ नहीं पकते, आगे-पिछे पकते हैं। इससे सिद्ध होता है कि कृत्रिम गर्मी सभी आमों को एक जैसी मिलने पर भी अपनी-अपनी योग्यतानुसार अपने-अपने स्वकाल में सभी आम पकते हैं। परन्तु निमित्त को मुख्य करके और काल को गौण करके कहा जाता है कि आम गर्मी से पके – यही अकालनय का कथन है।

३. अकाल से आशय समय से पहले कार्य हो गया – ऐसा नहीं है। अन्य समवायों को काल से भिन्न अकाल शब्द से सम्बोधित किया गया है। जरा विचार करे! समय से पहले का क्या अर्थ है? जब भी कार्य होगा तब कोई न कोई समय तो होगा ही। तो फिर वह समय पर ही हुआ क्यों न माना जाए? हमने अपनी कल्पना में उस कार्य का कोई समय निर्धारित कर रखा था उस अपेक्षा हम उसे समय से पहले या विलम्ब से हुआ कह देते है। इस प्रकरण पर विशेष जानकारी के लिए ज्ञान स्वभाव ज्ञेय स्वभाव, क्रमबद्धपर्याय निर्देशिका आदि ग्रन्थों का अध्ययन करना चाहिए।

४. कोई कार्य स्वकाल में हो और कोई कार्य आगे-पीछे होते हो – ऐसा नहीं है। एक ही कार्य में काल की मुख्यता से कालनय

और अन्य समवायों की मुख्यता से अकालनय घटित होता है।

(३२-३३)

पुरुषकारनय और दैवनय

"आत्मद्रव्य पुरुषकारनय से, जिसे पुरुषार्थ द्वारा नींबू का वृक्ष या मधुछत्ता प्राप्त होता है – ऐसे पुरुषार्थवादी के समान यत्नसाध्य सिद्धिवाला है, और दैवनय से जिसे पुरुषार्थवादी द्वारा नीबू का वृक्ष या मधुछत्ता प्राप्त हुआ और उसमें से जिसे बिना प्रयत्न के ही अचानक माणिक्य प्राप्त हो गया है – ऐसे दैववादी के समान अयत्नसाध्य सिद्धिवाला है।"

१. भगवान आत्मा की दुःखों से मुक्ति यत्नसाध्य है या अयत्नसाध्य – इस प्रश्न का उत्तर इन नयों के द्वारा दिया गया है।

२. भगवान आत्मा में अन्तर्मुखी पुरुषार्थ द्वारा मुक्ति प्राप्त करने की योग्यता को पुरुषकार धर्म कहते है और उसी समय कर्मक्षय का नैमित्तक कार्य होने की योग्यता है जिसे दैवधर्म कहते है। इन दोनों धर्मों को जाननेवाला ज्ञान पुरुषकारनय और दैवनय कहलाता है।

३. इन दोनों धर्मों को अलग-अलग उदाहरणों से इष्ट संयोग के सन्दर्भ में समझाया गया है। परन्तु सिद्धान्त में एक ही कार्य में दोनों नय घटित होते हैं। क्षपक श्रेणी के पुरुषार्थ से केवलज्ञान होता है – ऐसा कहना पुरुषकारनय का कथन है और ज्ञानावरणीकर्म के क्षय से केवलज्ञान होता है – ऐसा कहना दैवनय का कथन है। इस सन्दर्भ में नयप्रज्ञापन पृष्ठ २१५-२१६ (गुजराती) में व्यक्त किए गए पूज्य गुरुदेव का निम्नलिखित चिन्तन ध्यान देने योग्य है –

"किसी को पुरुषार्थ से मुक्ति प्राप्त हो और किसी को दैव (भाग्य) से – इसप्रकार भिन्न-भिन्न आत्माओं की यह बात नहीं है। प्रत्येक आत्मा में ये दोनों ही धर्म एकसाथ रहते हैं। अतः दैवनय के साथ अन्य नयों

की विवक्षा का ज्ञान भी होना चाहिए, तभी दैवनय का ज्ञान सच्चा कहा जायेगा।''

पुरुषार्थ से मुक्ति हुई - यह न कहकर कर्मों के टलने से मुक्ति हुई अथवा दैव से मुक्ति हुई - यह कहना दैवनय है, परन्तु उसमें भी चैतन्यस्वभाव के पुरुषार्थ का स्वीकार तो साथ में है ही।

जिस जीव को स्वभावसन्मुखता का पुरुषार्थ होता है, उसका भाग्य भी ऐसा ही होता है कि कर्म भी टल जाते है, कर्मों को टालने के लिए अलग से पुरुषार्थ नहीं करना पड़ता। इसी स्थिति में यह अपेक्षा ग्रहण करना कि कर्मों के टलने से मुक्ति हुई - दैवनय का कथन है।

४. यद्यपि यहाँ मुक्ति रूपी कार्य की चर्चा है तथापि बाह्य संयोग-वियोग के बारे में भी इन नयों का प्रयोग समझना चाहिए। बाह्य संयोगों की प्राप्ति के लिए किए गए योग-उपयोगत्मक प्रयत्न को व्यवहार से पुरुषार्थ कहते है परन्तु उससे इष्ट संयोग की प्राप्ति होने का कोई नियम नहीं है। संयोगों की प्राप्ति उदयाधीन हैं।

पापोदय में चाह व्यर्थ है, नहीं चाहने पर भी हो।
पुण्योदय में चाह व्यर्थ है, सहजपने मनवांछित हो।।

उक्त पंक्तियों में संयोग-वियोग में कर्मोदय की प्रधानता बताई गई है।

५. बाह्य पदार्थों के संयोग-वियोग में उपादान कारण तो वे उन पदार्थों की तत्समय की योग्यता ही है अतः पुरुषार्थ भी उन पदार्थों का उनमें ही है। हमारा प्रयत्न उन कार्यों में निमित्त मात्र है जिसे उपचार से पुरुषार्थ कहते हैं। हम तो मात्र अपने प्रयत्नरूप कार्य का विकल्पात्मक पुरुषार्थ करते हैं।

६. पद्मपुराण में समागत शम्बूकुमार द्वारा सूर्य हास खड्ग की प्राप्ति के लिए किये गए प्रयत्न की घटना का वर्णन है। मन्त्र सिद्धि की शम्बूकुमार ने, परन्तु उसका प्रयत्न निरर्थक हुआ, किन्तु लक्ष्मण

बिना किसी प्रयत्न के बिना किसी प्रयास के प्रधानमंत्री बन गए और अनेक प्रयत्न करने वाले लोग नहीं बन पाए।

७. वर्तमान शुभाशुभ भावों द्वारा बाँधे गए पुण्य-पाप कर्म आगामी संयोग-वियोग में दैव या भाग्य बनकर उदय में आते हैं।

नय क्रमांक २६ से ३३ तक कहे गए चारों जोड़ों का आत्महित में योगदान का विवेचन माननीय डॉ. हुकमचन्दजी भारिल्ल ने परमभाव प्रकाशक नयचक्र पृष्ठ ३२४ पर किया है, जो इस प्रकार है -

''जब कार्य होता है, तब ये पाँचो ही समवाय नियम से होते ही हैं और उसमें उक्त आठ नयों के विषयभूत आत्मा के आठ कर्मों का योगदान भी समान रूप से होता ही है। तात्पर्य यह है कि आत्मा की सिद्धि के सम्पूर्ण साधन आत्मा में ही विद्यमान हैं, उसे अपनी सिद्धि के लिए यहाँ-वहाँ झाँकने की या भटकने की आवश्यकता नहीं है।''

वस्तुस्थिति यह है कि जब परमपारिणामिक भावरूप नियतस्वभाव के आश्रय से यह भगवान आत्मा अपने पर्यायरूप अनियतस्वभाव को संस्कारित करता है, तब स्वकाल में कर्मों का अभाव होकर मुक्ति की प्राप्ति होती ही है। तात्पर्य यह है कि परमपारिणामिक भावरूप त्रिकाली ध्रुव आत्मा को केन्द्र बनाकर जब श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र परिणमित होते हैं, जब ज्ञानावरणादिक कर्मों का अभाव होकर अनन्तसुखस्वरूप सिद्धदशा प्रगट हो जाती है और इसमें ही उक्त आठ कर्म या आठ नय व पंच समवाय समाहित हो जाते हैं।

(३४-३५)

ईश्वरनय और अनीश्वरनय

''आत्मद्रव्य ईश्वरनय ये धाय की दुकान पर दूध पिलाये जानेवाले राहगीर के बालक के समान परतन्त्रता को भोगनेवाला है और अनीश्वरनय से हिरण को स्वच्छंदता पूर्वक फाड़कर खा जाने वाले सिंह के समान स्वतन्त्रता को भोगने वाला है।''

१. आत्मा में स्वयं पराधीनता भोगने की योग्यता है जिसे ईश्वर धर्म कहा जाता है और उसमें स्वयं स्वाधीनता भोगने की योग्यता है जिसे अनीश्वर धर्म कहते हैं। इन दोनों धर्मों को जाननेवाले ज्ञान को ईश्वरनय और अनीश्वरनय कहते हैं।

२. यहाँ ईश्वर धर्म का प्रयोग बड़ा विचित्र और दुर्लभ लगता है। ईश्वर शब्द का अर्थ तो ऐश्वर्य को भोगनेवाला अथवा सर्व शक्तिमान स्वाधीन सुपर पावर के रूप में जाना जाता है, परन्तु यहाँ उसे पराधीनता भोगने की योग्यता के रूप में कहा जा रहा है। इसमें यही दृष्टिकोण हो सकता है कि यह जीव अपने स्वाधीन स्वभाव को भूलकर पराधीनता भोगता है, अर्थात् पर-पदार्थ को अपना ईश्वर बना लेता है अतः यह योग्यता ईश्वर धर्म कही गई है।

३. यह बात ध्यान देने योग्य है कि आत्मा में स्वयं पराधीनता भोगने की योग्यता है जिसके कारण वह पराधीनता भोगने में स्वतन्त्र है। धर्मास्तिकाय आदि अन्य द्रव्यों में ऐसी योग्यता नहीं है।

४. वस्तुतः कोई द्रव्य पराधीन हो नहीं सकता। आत्मा भी पराधीन नहीं होता, अपितु विकारी परिणमन में पराधीनता भोगता है।

५. पराधीन होने की योग्यता से सिद्ध होता है कि द्रव्यकर्म जबर्दस्ती आत्मा को विकार नहीं कराते उसमें स्वयं पराधीन होकर विकार करने की योग्यता है।

६. कैसा भी संयोग हो, कैसा भी कर्मोदय हो, आत्मा अपने स्वरूप का लक्ष्य करके अतीन्द्रिय आनन्द भोगने में स्वतन्त्र हैं। वह स्वयं ही अपना ईश्वर है, अन्य कोई उसका ईश्वर नहीं है, इसलिए इस योग्यता को अनीश्वर धर्म कहा गया है।

७. ईश्वर और अनीश्वर ज्ञानी जीव पर किस प्रकार लागू होते हैं, इसका बहुत सुन्दर स्पष्टीकरण पूज्य गुरुदेव नयप्रज्ञापन (गुजराती) पृष्ठ २३३ पर इस प्रकार करते हैं :-

"पर्याय में राग-द्वेष होने से जितनी पराधीनता है, उसका ज्ञान धर्मी जीव को रहता है, पर उसी समय अन्तर्दृष्टि में आत्मा की स्वाधीन प्रभुता का ज्ञान भी रहता है, क्योंकि ईश्वरनय के समय अनीश्वरनय की अपेक्षा भी साथ ही है। जहाँ अपने द्रव्यस्वभाव की त्रिकाली ईश्वरता से चूके बिना मात्र पर्याय की पराधीनता सम्बन्धी ईश्वरता पर को देता है, वहाँ तो ईश्वरनय सच्चा है; परन्तु जो स्वभाव की ईश्वरता को भूलकर मात्र पर को ही ईश्वरता प्रदान करे, वह ईश्वरनय भी सच्चा नहीं है, वह तो पर्याय में ही मूढ़ होने से मिथ्यादृष्टि है।"

(३६-३७)

गुणीनय और अगुणीनय

"आत्मद्रव्य गुणीनय से शिक्षक द्वारा शिक्षा प्राप्त करनेवाले कुमार के समान गुणग्राही है, और अगुणीनय से शिक्षक के द्वारा शिक्षा प्राप्त करने वाले कुमार को देखनेवाले प्रेक्षक पुरुष के समान केवल साक्षी है।"

१. भगवान आत्मा में उपदेश ग्रहण करने की योग्यता है, जिसे गुणीधर्म कहते हैं और उपदेश से प्रभावित न होकर उसे मात्र जानने की योग्यता है, जिसे अगुणीधर्म कहा गया है। इन दोनों धर्मों को जाननेवाला ज्ञान गुणीनय और अगुणीनय कहा गया है।

२. ये दोनों धर्म भी उपदेश ग्रहण करने अथवा न करने की योग्यता बताकर आत्मा की पर्याय की स्वतन्त्रता की घोषणा करते हैं। हम किसी का उपदेश मानें या ना मानें इसके लिए हम स्वतन्त्र हैं, कोई हमें बाध्य नहीं कर सकता।

(३८-३९)

कर्तृनय और अकर्तृनय

"आत्मद्रव्य कर्तृनय से रंगरेज के समान रागादि परिणाम का कर्ता है और अकर्तृनय से अपने कार्य में प्रवृत्त रंगरेज

को देखने वाले पुरुष की भाँति केवल साक्षी है।"

१. आत्मा अपने रागादि परिणामों को स्वयं अपनी योग्यता से करे – ऐसी योग्यता वाला है, जिसे कर्तृधर्म कहते हैं और उसी समय उसका स्वभाव रागादिरूप नहीं होने की योग्यता भी रखता है जिसे अकर्तृधर्म कहते हैं। इन दोनों धर्मों को जाननेवाला ज्ञान कर्तृनय और अकर्तृनय कहलाता है।

२. समयसार में रागादि में एकत्व बुद्धि को कर्तृत्व कहा है, परन्तु यहाँ "यः परिणमति स कर्त्ता" इस परिभाषा के अनुसार ज्ञानी को भी राग का कर्त्ता बताया जा रहा है। भेदज्ञान होने से वह अकर्त्ता तो है ही। अतः यह कहा जा सकता है कि ज्ञानी दृष्टि की अपेक्षा रागादि भावों का अकर्त्ता है और ज्ञान की अपेक्षा उनका कर्त्ता। इस प्रकार भिन्न-भिन्न अपेक्षाओं से दोनो धर्म एक साथ सिद्ध होते हैं।

३. अज्ञानी को भी भिन्न-भिन्न अपेक्षाओं से कर्त्ता-अकर्त्ता देखा जा सकता है। यद्यपि अज्ञानी को नय नहीं होते तथापि ज्ञानी उसे नयदृष्टि से जानता हैं। रागादि रूप परिणमता है ही, एकत्व बुद्धि भी कर रहा है। अतः श्रद्धा-ज्ञान दोनो अपेक्षाओं से रागादि का कर्त्ता है, किन्तु उसी समय पर अशुद्धनय की दृष्टि से वह रागादि को छूता हुआ भी नहीं है, अतः अकर्त्ता है।

४. समयसार, गाथा ३२० में आत्मा को आँख के समान रागादि सभी पर्यायों का अकर्त्ता अथवा मात्र ज्ञाता कहा है, यह कथन भिन्न-भिन्न अपेक्षाओं से ज्ञानी-अज्ञानी सभी जीवों पर लागू होता है।

५. अगुणीनय में आत्मा को मात्र उपदेश का साक्षी कहा था। यहाँ अपने में होने वाले रागादि का साक्षी कहा गया है और अभोक्तृत्वनय से अपने सुख-दुख का साक्षी कहा गया है। उसका स्वभाव तो सभी पदार्थों को साक्षी भाव से मात्र जानने का ही है।

(४०-४१)

भोक्तृत्वनय और अभोक्तृत्वनय

"आत्मद्रव्य भोक्तृत्वनय से हितकारी-अहितकारी अन्न को खानेवाले रोगी के समान सुख-दुःखादि का भोक्ता है और अभोक्तृत्व नय से हितकारी-अहितकारी अन्न को खानेवाले रोगी को देखनेवाले वैद्य के समान केवल साक्षी ही है।"

१. भगवान आत्मा में ऐसी योग्यता है कि वह अपनी भूल से अपने में उत्पन्न होने वाले सुख-दुःख एवं हर्ष शोक को भोगे अर्थात् वेदन करे, जिसे भोक्तृत्व धर्म कहते हैं और एक ऐसी योग्यता भी है, जिससे वह अपने में उत्पन्न होने वाले सुख-दुख एवं हर्ष-शोक को भोगता नहीं है, मात्र साक्षी भाव से जानता देखता है। इस योग्यता को अभोक्तृत्व धर्म कहते हैं। इन दोनों धर्मों को जानने वाला ज्ञान भोक्तृनय और अभोक्तृत्वनय है।

२. कर्तृत्वनय और अकर्तृत्व में घटित होने वाली सभी विवक्षायें यहाँ भी समझ लेना चाहिए, क्योंकि कर्तापन और भोक्तापन एक साथ रहते हैं।

३. ज्ञानी को भी चारित्र की कमजोरी के कारण पुण्य-पाप के उदय में सुख-दुःख का वेदन होता है तो भी उस सुख-दुःख को पराश्रित परिणाम जानकर अपने स्वरूप को उससे भिन्न ही जानता है। यह भेद ज्ञान ही साक्षी भाव है, जिसके बल से वह सुख-दुःख को भोगते समय भी उनका ज्ञाता ही रहता है।

४. गुणी-अगुणी, कर्तृ-अकर्तृ तथा भोक्तृ-अभोक्तृ – इन छहों नयों के माध्यम से आत्मा के स्वरूप का वर्णन करते हुए डॉ.भारिल्ल नयचक्र पृष्ठ ३३२ पर लिखते हैं – भगवान आत्मा गुणीनय से गुणग्राही है अर्थात् उपदेश को ग्रहण करनेवाला है और अगुणीनय से गुणग्राही नहीं है मात्र साक्षी भाव से देखने-जाननेवाला है; कर्तृनय से अपने आत्मा

में उत्पन्न होनेवाले रागादिभावों का कर्त्ता है और अकर्तृनय से उनका कर्त्ता नहीं है, मात्र साक्षीभाव से देखने-जाननेवाला है। इसीप्रकार भोर्क्तृनय से अपने में उत्पन्न सुख-दुःख का भोक्ता है और अभोक्तृनय से अपने में उत्पन्न सुख-दुःख का भी भोक्ता नहीं है, मात्र साक्षीभाव से जानने-देखनेवाला है।''

(४२-४३)

क्रियानय और ज्ञाननय

''आत्मद्रव्य क्रियानय से खम्भे से टकराने से सिर फूट जाने पर दृष्टि उत्पन्न होकर, जिसे निधान मिल गया है - ऐसे अन्धे के समान अनुष्ठान की प्रधानता से सधनेवाली सिद्धिवाला है और ज्ञाननय से मुट्ठी भर चने देकर चिन्तामणि रत्न खरीदनेवाले घर के कोने में बैठे हुए व्यापारी के समान, विवेक की प्रधानता से सधनेवाली सिद्धिवाला है।''

१. भगवान आत्मा में अनुष्ठानपूर्वक कार्यसिद्धि की योग्यता है, जिसे क्रिया धर्म कहते है और ज्ञान द्वारा कार्यसिद्धि की योग्यता है, जिसे ज्ञान धर्म कहते हैं। इन दोनों को जाननेवाला ज्ञान क्रियानय और ज्ञाननय कहलाता है।

२. यहाँ क्रिया से आशय जड़ की क्रिया से नहीं है। यहाँ साधकदशा में होनेवाले शुभभाव को क्रिया कहा गया है, क्योंकि वे प्रायः व्रत-शील-संयमादि बाह्य क्रिया में निमित्त होते हैं। इसी प्रकार ज्ञान से आशय रत्नत्रय रूप शुद्ध परिणति से है, मात्र बहिर्लक्ष्यी क्षयोपशम से नहीं।

३. किसी को शुभभाव से मोक्ष होता है और किसी को रत्नत्रय रूप शुद्धभाव से - ऐसा नहीं है। साधक को निश्चय रत्नत्रय के साथ यथायोग्य शुभभाव होते ही हैं। अतः क्रियानय से अनुष्ठान (शुभभाव एवं महाव्रतादि क्रिया) की प्रधानता से कथन होता है। इस सम्बन्ध में नयप्रज्ञापन

(गुजराती) पृष्ठ २७५ पर पूज्य गुरुदेवश्री द्वारा किया गया स्पष्टीकरण इसप्रकार है -

''यहाँ प्रधानता शब्द का प्रयोग किया गया है, जो यह बताता है कि गौणरूप से दूसरा कारण भी विद्यमान है। क्रियानय में अनुष्ठान की प्रधानता कही है अर्थात् शुभभाव की प्रधानता कही है, उसमें से भी यही अर्थ निकलता है कि गौणरूप से उसीसमय सम्यग्ज्ञान रूप विवेक भी विद्यमान है।

शुभराग की प्रधानता से सिद्धि होती है - जब क्रियानय से इसप्रकार कहा जाता है, तब उसीसमय यह ज्ञान भी साथ में रहता है कि उसी काल में गौणरूप में अन्तर में शुद्धता भी विद्यमान है। ऐसा ज्ञान अन्तर में रहे, तभी क्रियानय सच्चा कहा जाता है।''

(४४-४५)

व्यवहारनय और निश्चयनय

''आत्मद्रव्य व्यवहारनय से अन्य परमाणु के साथ बँधने वाले एवं उससे छूटने वाले परमाणु के समान बन्ध और मोक्ष में द्वैत का अनुसरण करने वाला है और निश्चयनय से बन्ध और मोक्ष के योग्य स्निग्ध और रूक्ष गुण रूप से परिणित बध्यमान और मुच्यमान परमाणु के समान बन्ध और मोक्ष में अद्वैत का अनुसरण करने वाला है।''

१. भगवान आत्मा में एक ऐसी योग्यता है जिससे उसकी बन्ध या मोक्ष पर्यायों को कर्म की सापेक्षता से देखा जा सके। इस योग्यता को व्यवहार धर्म कहते हैं और इसके विरुद्ध एक ऐसी योग्यता भी है जिससे उसकी बन्ध-मोक्ष पर्यायों को कर्म से निरपेक्ष देखा जा सके। इस योग्यता को निश्चय धर्म कहते हैं। इन दोनों धर्मों को जानने वाला ज्ञान व्यवहारनय और निश्चयनय कहलाता है।

२. यहाँ बन्ध और मोक्ष पर्यायों को कर्म की सापेक्षता से कहना व्यवहारनय कहा गया है। यद्यपि व्यवहारनय की अन्यत्र अनेक परिभाषाऐं मिलती हैं तथापि यहाँ पराश्रितो व्यवहारः अथवा व्यवहार नय स्वद्रव्य-परद्रव्य को उनके भावों को तथा कारण कार्यादि को किसी को किसी में मिलाकर निरूपण करता है - यह परिभाषा यहाँ घटित हो रही है। आत्मा कर्मों से बँधा है और कर्मों से छूटा है - ऐसा कहने में परद्रव्य की अपेक्षा आती है अतः द्वैत खड़ा हो जाता है।

३. यद्यपि अभेद आत्मा में बन्ध-मोक्ष का भेद करना भी द्वैत है, परन्तु यहाँ यह विवक्षा नहीं है। यहाँ तो कर्मों से बँधने या छूटने को द्वैत कहा गया है।

४. भगवान आत्मा स्वयं अपनी योग्यता से बँधता या मुक्त होता है। परमाणु की स्निग्ध और रूक्षता के समान आत्मा में भी बँधने या छूटने की योग्यता है उसे बन्ध या मुक्ति में कर्म की अपेक्षा नहीं है। इस प्रकार बन्ध-मोक्ष को स्वाधीन देखना निश्चयनय है। प्रवचनसार गाथा १६ में आत्मा को संसार या मुक्त अवस्था में स्वयंभू कहा है।

५. बन्ध-मोक्ष में आत्मा स्वाधीन है - इस कथन में उसकी पर्यायों की स्वतन्त्रता की घोषणा की गई है। यहाँ दृष्टि के विषयभूत त्रिकाली ध्रुव आत्मा की बात नहीं है। इस सम्बम्ध में पूज्य गुरुदेवश्री द्वारा नयप्रज्ञापन (गुजराती) पृष्ठ ३१२ पर व्यक्त किए गए विचार दृष्टव्य हैं -

"यहाँ जो यह कहा जा रहा है कि निश्चयनय से आत्मा बंध-मोक्ष में अद्वैत का अनुशरण करनेवाला है, उसमें आत्मा का त्रिकाली स्वभाव जो कि दृष्टि का विषय है, वह नहीं लेना। यहाँ तो बंध-मोक्ष पर्याय में अकेला आत्मा ही परिणमता है - इसप्रकार अकेले आत्मा की अपेक्षा बंध-मोक्ष पर्याय को लक्ष्य में लेंने की बात है।

बंधपर्याय में भी अकेला आत्मा परिणमित होता है और मोक्षपर्याय

में भी अकेला आत्मा ही परिणमित होता है - इस प्रकार बंध-मोक्ष पर्याय निरपेक्ष है; इसप्रकार का निश्चय आत्मा बंध एवं मोक्ष में अद्वैत का अनुसरण करनेवाला है; इसप्रकार का भगवान आत्मा में एक धर्म है।"

६. यद्यपि यहाँ बंध और मोक्ष पर्याय में द्वैत और अद्वैत धर्म घटित किए हैं तथापि जीवादि सातों तत्त्वों में पर की सापेक्षता से द्वैतपना और पर की निरपेक्षता से अद्वैतपना घटित हो सकता है।

(४६-४७)

अशुद्धनय और शुद्धनय

"आत्मद्रव्य अशुद्धनय से घट और रामपात्र से विशिष्ट मिट्टी मात्र के समान सोपाधि स्वभाववाला है और शुद्धनय से केवल मिट्टी मात्र के समान निरुपाधि स्वभाववाला है।"

१. भगवान आत्मा में औपाधिक (विकारी) भाव रूप परिणमित होने की योग्यता है जिसे अशुद्ध धर्म कहते हैं और विकारी भावरूप परिणमन होने पर भी सदा एकरूप रहने की योग्यता है जिसे शुद्धधर्म कहते हैं। इन दोनों धर्मों को जाननेवाले ज्ञान अशुद्धनय और शुद्धनय है।

२. अशुद्धधर्म पर्यायगत योग्यता है जिसे क्षणिक उपादान की योग्यता कहा जा सकता है। यह योग्यता ही आत्मा के विकारी परिणमन को द्रव्यकर्मादि पर-पदार्थों से निरपेक्ष और स्वतन्त्र सिद्ध करती है। यदि पर्याय में विकारी भावरूप परिणमने की योग्यता न होती तो अनन्त पर-पदार्थ भी आत्मा में विकार उत्पन्न नहीं करा सकते।

३. रागादि भाव आत्मा का त्रिकाली स्वभाव न होने पर भी वे पर के कारण उत्पन्न नहीं होते। आत्मा में उन्हें धारण करने की योग्यता है अर्थात् अशुद्धनय से आत्मा का ऐसा ही स्वभाव है। इस सम्बन्ध में

पूज्य गुरुदेवश्री द्वारा नयप्रज्ञापन पृष्ठ ३२१ पर किया गया स्पष्टीकरण इस प्रकार है :-

"यदि इसप्रकार का धर्म भगवान आत्मा में स्वयं का नहीं होता तो अन्य अनन्त परद्रव्य इकट्ठे होकर आत्मा में विकार उत्पन्न नहीं कर सकते थे। निगोद से लेकर चौदहवें गुणस्थान तक जो उपाधिभाव-विकारभाव-उदयभाव-संसारभाव होते हैं, उन्हें आत्मा स्वयं ही धारण किये रहता है, क्योंकि अशुद्धनय से आत्मा का ऐसा ही स्वभाव है।"

४. यहाँ रागादि की उत्पत्ति में आत्मा के पर्यायगत स्वभाव को कारण कहा है अर्थात् यह योग्यता ही स्वभाव नामक समवाय है।

५. क्षणिक पर्याय में अशुद्धता होने पर भी आत्मा का स्वभाव निरुपाधिक और विकार रहित है। उसकी यह योग्यता शुद्धनय का विषय है।

६. यहाँ विकार होने की योग्यता के सामने त्रिकाली सामान्य स्वभावरूप रहने की योग्यता को लिया है। निर्मल पर्यायों की योग्यता के बारे में यहाँ कोई चर्चा नहीं की गई है। इसप्रकार आत्मा एक साथ शुद्ध और अशुद्ध दोनों धर्मों को धारण करता है।

इसप्रकार यहाँ अनन्त धर्मात्मक आत्मा में विद्यमान ४७ धर्मों का कथन किया। शुद्ध चैतन्यमात्र आत्मा को दृष्टि में लेना ही इन सभी धर्मों को जानने का फल है।

प्रस्तुति : पं. अभयकुमार जैन, देवलाली

5. श्री प्रवचनसारजी-अलिंगग्रहण के २० बोल

१. टीकार्थ– ग्राहक (ज्ञायक) जिसके लिंगों के द्वारा अर्थात् इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण (जानना) नहीं होता, वह अलिंगग्रहण है। इसप्रकार **आत्मा अतीन्द्रिय ज्ञानमय है** – इस अर्थ की प्राप्ति होती है। **सारांश-** आत्मा इन्द्रियों के द्वारा नहीं जानता है। स्व-पर प्रकाशक ज्ञानस्वभाव स्वयं से है, इन्द्रियों से नहीं। आत्मा इन्द्रियों से जाने ऐसा ज्ञेय पदार्थ नहीं है।

२. टीकार्थ– ग्राह्य (ज्ञेय) जिसका लिंगों के द्वारा अर्थात् इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण (जानना) नहीं होता है – वह अलिंगग्रहण है। इसप्रकार **आत्मा इन्द्रिय-प्रत्यक्ष का विषय नहीं है** – इस अर्थ की प्राप्ति होती है। **सारांश-** आत्मा इन्द्रियों के द्वारा जानने में नहीं आता। आत्मा इन्द्रियों से ज्ञात हो – ऐसा ज्ञेय पदार्थ नहीं है। आत्मा स्वज्ञान प्रत्यक्ष से ज्ञात हो– ऐसा ज्ञेय पदार्थ है।

३. टीकार्थ– जैसे धुयें से अग्नि का ग्रहण (ज्ञान) होता है, इसीप्रकार लिंग द्वारा अर्थात् इन्द्रियगम्य (इन्द्रियों से जानने योग्य) चिन्ह द्वारा जिसका ग्रहण नहीं होता है, वह अलिंगग्रहण है। इसप्रकार **आत्मा इन्द्रियप्रत्यक्षपूर्वक अनुमान का विषय नहीं है** – ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है। **सारांश-** आत्मा इन्द्रियों के अनुमान से ज्ञात हो ऐसा ज्ञेय नहीं है।

४. टीकार्थ– दूसरों के द्वारा मात्र लिंग द्वारा ही जिसका ग्रहण नहीं होता वह अलिंगग्रहण है। इसप्रकार **आत्मा अनुमेयमात्र (केवल अनुमान से ही ज्ञात होने योग्य) नहीं है** – ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है। **सारांश-** अन्य द्वारा आत्मा केवल अनुमान से ज्ञात हो वह ऐसा प्रमेय पदार्थ नहीं है। यदि आत्मा केवल अनुमान का ही विषय हो तो वह कभी भी प्रत्यक्षज्ञान का विषय नहीं हो सकता।

५. टीकार्थ– जिसके लिंग से ही अर्थात् अनुमानज्ञान से ही पर का ग्रहण नहीं होता, वह अलिंगग्रहण है। इसप्रकार **आत्मा अनुमातामात्र (केवल अनुमान करनेवाला ही) नहीं है** – ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती